
इकाई 21 प्रायद्वीपीय भारत में बदलता हुआ सामाजिक ढांचा

इकाई की रूपरेखा

21.0 प्रस्तावना

21.1 राजनीतिक अभिजात वर्ग

21.2 भूमिपति अभिजात वर्ग

21.2.1 वतनदार

21.2.2 तमिल क्षेत्र में भूमिपति अभिजात वर्ग

21.2.3 पलयिककरण

21.3 वलनगई-इडनगई समूह (दक्षिणपंथी-वामपंथी जातियां)

21.4 व्यापारी और कारीगर

21.5 धार्मिक समूह

21.6 दक्खन में सूफीवाद

21.6.1 दक्खन में सूफीवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास : चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक

21.6.2 सूफियों की राजनीतिक भूमिका

21.6.3 सूफियों की सामाजिक भूमिका

21.7 सारांश

21.8 अभ्यास

21.0 प्रस्तावना

दक्खन क्षेत्र में और दक्षिण भारत में मध्यकाल में समाज में बहुत तेजी से परिवर्तन आए इनके प्रमुख कारणों का संबंध ऐसे राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक विकासों से था जिनके कारण नये सामाजिक समूह बने और पहले से मौजूद समूहों के स्वरूप में परिवर्तन आया। दसवीं शताब्दी के आसपास यादवों के ह्रास, पूर्वी दक्खन में काकतियों के उद्भव, चौदहवीं शताब्दी में आदिल शाही, निजाम शाही, कुतुब शाही, बरीद शाही और इमाद शाही इन चार दक्खनी सल्तनतों की स्थापना होने के बाद बहमनी शासन, सत्रहवीं शताब्दी में मुगलों के आक्रमण और दक्खन में प्रसार और अंत में मराठा राज्य की स्थापना इन सब कारणों से राजनीतिक ढांचे में परिवर्तन आया जिसने ग्राम और शहरी स्तरों पर समाज को प्रभावित किया। मराठी, कन्नड़ एवं तेलुगु भाषी समूहों ने अपनी संपर्क भाषा के साथ-साथ दूसरों की भाषाओं में भी संपर्क स्थापित करके उन्हें प्रभावित किया। दक्खनी भाषा एवं संस्कृति का विकास एवं प्रसार, जो 1347 ई. में बहमनी शासन की स्थापना से पहले ही शुरू हो गया था, बहुत तेजी से होने लगा और इसके कारण सामाजिक जीवन में नये आयाम शुरू हुए। दक्खन क्षेत्र में दक्खनी उर्दू स्थानीय भाषा के रूप में उभरी

जिस पर मराठी, कन्नड़ और तेलुगु भाषा एवं सांस्कृतिक रूपों का प्रभाव पड़ा। सरकारी राजनीतिक तंत्र ने अपने संसाधन आधार को बढ़ाने के लिए कृषि क्षेत्रों और कृषि संबंधी कार्यकलापों का विस्तार किया। पर्वतीय एवं वन क्षेत्रों में कृषि का विस्तार होने और नये गांव के बसने से सामाजिक संघटन अत्यधिक प्रभावित हुआ (इसकी चर्चा इकाई 18, खंड 5 में की जा चुकी है)। पूर्वी दक्खन में आंध्र प्रदेश के वारंगल के काकतियों के शासन काल में कृषि आधार का विकास होने तथा ग्रामीण समाज के रूपांतरण के कारण नये मंदिरों का निर्माण हुआ। स्थानीय सरदारों, व्यापारियों और शाही परिवार के सदस्यों ने बड़े पैमाने पर भूमि, विशेष रूप से अकृषित वन भूमि दान में दी। इन भूमियों पर से जंगलों को साफ किया गया, उन पर सिंचाई हेतु तालाब बनाए गए और खेती शुरू की गई। इन जंगलों में रहने वाली कई जनजातियां कृषक वर्ग में परिवर्तित हो गईं और ग्रामीण समाज के निचले तबके में शामिल हो गईं। मंदिरों ने 'सामाजिक एवं राजनीतिक समन्वयक' का काम किया। मंदिरों की भूमि पर मंदिरों से संबंधित विभिन्न कार्यकलाप करने के लिए किसानों, कारीगरों एवं चरवाहों को रोजगार दिया गया और ग्रामीण समाज के इन विभिन्न समुदायों को एक धार्मिक ढांचे के भीतर शामिल किया गया। चौदहवीं शताब्दी के बाद से दक्खन में विभिन्न भक्ति एवं सूफी संप्रदायों ने अपने-अपने लोक प्रचलित सामाजिक आधार और व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण के कारण समाज के साथ संपर्क करने में 'सांस्कृतिक संक्रमण' की प्रक्रिया प्रस्तुत की जिसके कारण विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच सांस्कृतिक मूल्यों एवं परंपराओं का पारस्परिक प्रभाव और प्रसार हुआ, परिणामस्वरूप नई सांस्कृतिक विशिष्टताओं का विकास हुआ।

इसी प्रकार इस प्रायद्वीप में हुए राजनीतिक परिवर्तनों ने भी सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन किए। यह संक्रमण काल बारहवीं तेरहवीं शताब्दियों में चोलों के क्रमिक हास, चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली सल्तनत के आक्रमण और चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य के उद्भव के दौरान देखा जा सकता है। विशेष रूप से तमिल क्षेत्र पर होयसलों के आधिपत्य और 1336 ई. तक विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के कारण कर्नाटक, तमिलनाडु एवं आंध्र प्रदेश के तीन सांस्कृतिक अंचलों का एकीकरण हुआ। परिणामस्वरूप, आर्द्र भूमि कृषि बस्तियों और अल्प संसाधन आधार वाले शुष्क उच्च भूमि क्षेत्रों के बीच संबंध तंत्र का विकास हुआ। इसके कारण दक्खन पठार के शुष्क उत्तरी अंचलों से आए तेलुगु योद्धा और प्रमुख कृषि समुदाय तथा एक नया योद्धा वर्ग, जो बाद में नायक के नाम से मशहूर हुआ, केंद्र बिंदु बन गए। परिणामस्वरूप, कृषि बस्तियों के आसपास बसे निर्जन वन क्षेत्र और पर्वतीय क्षेत्र धीरे-धीरे प्रमुख राजनीतिक एवं आर्थिक केंद्रों के रूप में विकसित हो गए। इन अरुचिकर क्षेत्रों की आबादी में शिकारी जातियां भी थीं जिनकी फौजी परंपरा विजयनगर और नायकों की सेनाओं में उनकी भर्ती का आधार बनी। बाद में, इस प्रकार सैनिक भर्ती में दक्षिण भारत की सीमाओं के बाहर से आए हुए सामाजिक दृष्टि से क्षेत्रीय विविधताओं वाले विभिन्न सैनिक समूहों को भी आकर्षित किया। इन सेनाओं में भर्ती होने के लिए उत्तरी भारत, दक्खनी एवं राजपूत योद्धा बड़े पैमाने पर दक्खन में आए। सूसन बेली के अनुसार 'बड़े पैमाने पर इस्लामी प्रतीक चिन्ह विजयनगर शासन काल में (1336-1576) में प्रवास के कारण दक्षिण भारत में आए। (सूसन बेली, *सेंट्स, गॉडेसेस एंड किंग्स: मुस्लिम्स एंड क्रिश्चियन्स इन साउथ इंडियन सोसाइटी 1700-1900*, कैम्ब्रिज, 1992, पृ. 31-68)

राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ व्यापार, व्यापारिक नेटवर्क एवं शहरीकरण का भी तेजी से प्रसार एवं विकास हुआ। व्यापारी और कारीगर वर्ग अपेक्षाकृत अधिक गतिशील था, उनके लिए क्षेत्रीय सीमाओं का कोई महत्व नहीं था। उदाहरण के लिए, सौराष्ट्र से आए कनमाला एवं कोमती व्यापारी तथा पट्टानुलकर (रेशम बुनकर) विजयनगर शासन काल में तमिल क्षेत्र में आकर अन्ततः बस गए। विशेष रूप से सौराष्ट्र से आए हुए पट्टानुलकर कुछ समय के लिए उत्तरी कर्नाटक के विजयनगर शहर में बसे, वहां से फिर चलकर वे अंत में कांचीपुरम, मदुरई एवं रामेश्वरम् के धार्मिक स्थलों में जाकर बस गए। ये नये व्यापारिक समुदाय विभिन्न धार्मिक परंपराओं शैव, वैष्णव एवं इस्लाम के अनुयायी थे। उनके आर्थिक संबंधों के मिश्रित नेटवर्क ने मध्यकालीन समाज को सबसे ज्यादा प्रभावित किया।

21.1 राजनीतिक अभिजात वर्ग

नया योद्धा वर्ग, जो बाद में नायक के नाम से मशहूर हुआ, मंदिरों और मठों के संरक्षक के रूप में उभरा और उसने मध्यकाल में विभिन्न धार्मिक व्यवस्थाओं का संवर्द्धन किया। नायक मंदिरों के प्रबंधन में भी संलग्न रहे। हालांकि *नायक* मुख्य रूप से विजयनगर साम्राज्य से जुड़े हुए थे, परंतु महत्वपूर्ण राजनीतिक अभिजात वर्ग के रूप में इस सामाजिक वर्ग का उदय सर्वप्रथम पूर्वी दक्खन के काकतिया राज्य में देखा जा सकता है। काकतिया राज्य में विभिन्न भूमिपतियों को, विशेषकर आंध्र ग्रामीण समाज के शक्तिशाली सरदारों को, राजनीतिक तंत्र में शामिल किया गया। हालांकि वे अभिजात वर्ग से इतर वर्ग के थे और उन्हें पहले से स्थापित अभिजात परंपरा के राजकुमारों एवं सरदारों के स्थान पर शामिल किया गया था। इन सरदारों के पास पहले से अपनी भूमियों पर आनुवांशिक अधिकार थे और गांव की कृषि उपज में उन्हें एक निर्धारित हिस्सा मिलता था। काकतिया शासन की सेवाओं के बदले उन्हें अतिरिक्त भूमि दी जाती थी और उसका निर्धारण रियायती दरों पर किया जाता था। उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में कर से छूट देने का अधिकार था और उन्हें अंगरक्षक, लेंका एवं नायक जैसी सैनिक पदवियां मिली हुई थीं। (सिंथिया टैलबॉट (2001) प्रि-कोलोनियल इंडिया इन प्रैक्टिस: सोसाइटी, रीजन एंड आईडेंटिटी इन मीडियल आंध्रा, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, पृ. 48-84) इस काश्त को वृत्ति कहा जाता था। इसके अलावा इन सरदारों और योद्धाओं को राजनीतिक तंत्र में शामिल करने के लिए काकतिया शासन ने क्षेत्रों पर एक नये प्रकार के नयनकारमू नामक काश्ताकारी अधिकार बनाए।

राजनीतिक सीमाओं में परिवर्तन होने, राज्यों की, विशेष रूप से विजयनगर साम्राज्य की, सैन्य आवश्यकताओं के बढ़ने और कृषि क्षेत्र का विस्तार होने से तेलुगु योद्धा वर्ग का नदी घाटी की ओर और संभावित विकास वाले आसपास के क्षेत्रों में प्रवास बढ़ा। जैसा कि पहले वर्णन किया गया है कि नायकों ने पहले के स्थानीय शक्तिशाली वर्गों और उनके नियंत्रण वाले क्षेत्रों का अतिक्रमण किया और वे मंदिरों तथा मठों के प्रमुख संरक्षकों के रूप में उभरे। इन नायकों को अमरनायक भी कहा जाता था। फरनाओ नूनियज तथा डोमिंगो पायस के अनुसार, सोलहवीं शताब्दी में कृष्णदेवराय के शासन काल में विजयनगर साम्राज्य की यात्रा पर आए दो पुर्तगाली यात्रियों ने इन नायकों का उल्लेख रायों विजयनगर शासकों के एजेंट के रूप में

किया है। ये नायक राय की ओर से अपने क्षेत्रों में कर की वसूली करते थे और सैनिक सेवा प्रदान किया करते थे। उनके नियंत्रण में कुछ फौजें रहती थीं और उन्हें भूमि पर कुछ राजस्व अधिकार मिले हुए थे जिसे अमरम कहा जाता था। मंदिरों को दान देना, तालाबों की मरम्मत एवं निर्माण कराना और कृषि के लिए भूमि सुधार करना आदि इन नायकों के दायित्व थे। बाद में ये नायक शक्तिशाली हो गए और सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी में इन्होंने अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली।

नोबोरु काराशीमा के अनुसार, नायक बड़े सैनिक कमांडर थे जिन्हें पंद्रहवीं शताब्दी में राजा द्वारा भूमि प्रदान की गई थी और जिन्होंने कुछ-कुछ 'मध्यकालीन यूरोप एवं जापान के सामंतवादी शासकों की तरह' काम किया। उनके अनुसार चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में नायकों के क्षेत्रीय शासन की वैधतां शुरु-शुरु में राजा द्वारा दिए गए प्राधिकार से शुरु हुई थी। इस काल में नायक महत्वपूर्ण अधिकारी जैसे- गवर्नर, महामंडलेश्वर जनरल, दंडनायक, राजस्व अधिकारी, अधिकारी एवं प्रशासक थे। काराशीमा के अनुसार सोलहवीं शताब्दी में उनमें सामंतवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ। उनके पास स्पष्ट रूप से नायककट्टनम नामक क्षेत्र हुआ करते थे। यह सामंती संबंध न केवल राजाओं और नायकों के बीच होता था बल्कि नायकों में ही उच्च और निम्न नायकों के बीच भी हुआ करता था। यह बात शासक के लाभ के लिए शासक द्वारा दी जाने वाली मैरिट के संदर्भ में स्पष्ट परिलक्षित होती है। सबसे निचले स्तर पर इस सामंती परंपरा में गांव के भूमिपतियों को शामिल किया गया। (नोबोरु काराशीमा, (1994), *टुवर्ड्स ए न्यू फॉर्मेशन साऊथ इंडियन सोसाइटी अंडर विजयनगर रूल*, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 35-38) इस प्रकार शासक-शासित संबंधों का एक स्तरीकृत नेटवर्क बना जिसने गांव के भूमिपतियों और किसानों को सबसे निचले स्तर पर ला दिया।

डी.सी. सरकार जैसे कई इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं कि नायकों और नायनकार व्यवस्था ने सामंती ढांचे का निर्माण किया क्योंकि सामंतवाद से जुड़ी हुई 'स्वामिभक्ति', 'निष्ठा' एवं 'अधीनस्थता' जैसी सामंतवादी विशेषताएं इसमें दिखाई नहीं देती।

नायक शासन का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि उनके अधीन राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिरता थी और उत्पादन एवं व्यापार का प्रसार हुआ। उन्होंने कारीगरों और व्यापारियों को प्रोत्साहन दिया तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान की जैसा कि कनमालों को दी गई कर में छूट और साप्ताहिक मेलों से वसूल किए जाने वाले तालारिककम से स्पष्ट होता है।

दक्खन में राजनीतिक अभिजात वर्ग में विभिन्न कुलीन वर्ग और *इक्तादार* शामिल थे। बहमनी दरबार में कुलीन वर्ग के भीतर एक प्रभावशाली दल अफाकियों का था। अफाकी शब्द का अर्थ है सार्वभौमिक अर्थात् ऐसे लोग जिनकी अपनी कोई जड़ें नहीं होतीं। इस प्रकार अफाकी वहां विदेशी थे। ये अफाकी ईरान, ट्रांसऑक्सियाना तथा इराक से आए थे और पंद्रहवीं शताब्दी के बाद से बहमनी दरबार में प्रभावशाली बन गए थे। इससे प्राचीन कुलीन वर्ग - दक्खनी वर्ग में असंतोष व्याप्त हो गया। बहमनी शासन के सुल्तानों ने और बाद में दक्खनी सल्तनतों ने भी एक वर्ग का दूसरे वर्ग के विरुद्ध समर्थन करने का प्रयास किया

जिससे कोई एक वर्ग इतना मजबूत न हो जाए कि वह सुल्तान पर हावी हो जाए। लगातार चलने वाले इन दलीय संघर्षों के कारण राजनीति में अस्थिरता आई और राज्य विशेष का पतन हुआ।

हसन बहमन शाह ने दक्खन में अपनी संप्रभुता स्थापित करने के बाद, अपने उन सभी सहयोगियों को प्रशासनिक पदों पर नियुक्त किया जिन्होंने तुगलक शासकों को बाहर खदेड़ने और बहमनी शासन की स्थापना करने में उसकी मदद की थी। उन्हें इक्ता नामक भू-राजस्व आबंटन दिए गए। यह इक्ता व्यवस्था दिल्ली सल्तनत की इक्तादारी व्यवस्था जैसी थी। इक्ता धारकों को फौजों और साज-सामानों को रखना पड़ता था। बहमनी और दक्खनी सुल्तानों द्वारा विभिन्न शक्तिशाली वर्गों को दिए गए इक्ते हस्तांतरणीय भू-राजस्व अनुदान थे।

दक्खन में इक्तेदार शुरू-शुरू में तो नहीं, परंतु बाद में शहरों में अनुपस्थित भूमिपतियों के रूप में उभरे। दक्खन में इक्ते नगरों और किलों के आसपास हुआ करते थे और व्यापार एवं वाणिज्य को प्रभावित करते थे क्योंकि वे व्यापारियों, नकदी एवं माल के आवागमन के लिए सुरक्षा प्रदान किया करते थे। कुछ ऐसे भी साक्ष्य मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि बहमनी शासन में इक्तेदार प्रायः अपने स्वयं के भू-आबंटनों में से ही ऐसे स्थानीय भूमिपतियों को इक्ते दे दिया करते थे जो आनुवांशिक भूमिपतियों के शक्तिशाली स्वदेशी वर्ग के होते थे। यह बात अधीनस्थता की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाती है क्योंकि केंद्र सरकार स्थानीय भूमिपतियों को इक्ते नहीं दिया करती थी, बल्कि उसका कोई एक इक्तेदार ही इक्ते दिया करता था। इसलिए इक्ते प्रदान करना एक ऐसी व्यवस्था बन गई जिसके माध्यम से बहमनी शासन ने ग्रामीण अभिजात वर्ग को राजनीतिक तंत्र का हिस्सा बनाकर गांवों पर नियंत्रण किया।

21.2 भूमिपति अभिजात वर्ग

इस भाग में हम मुख्य रूप से शहरी आधार वाले भूमिपति अभिजात वर्गों पर चर्चा करेंगे।

21.2.1 वतनदार

दक्खन क्षेत्र में शक्तिशाली कृषक वर्गों में एक वर्ग वतनदारों का था। वतन धारकों को वतनदार कहा जाता था। वतन का अर्थ है पैतृक संपत्ति जो न केवल आनुवांशिक हुआ करती थी बल्कि उसका विक्रय एवं हस्तांतरण भी किया जा सकता था। परगना के वतनदार जैसे – *देशमुख* और *देशपांडे*, गांव के वतनदारों जैसे – *पाटिलों* और *कुलकर्णियों* से उच्च हुआ करते थे। वतन का मूल्य मात्र इनके आय का लाभदायक स्रोत होने के कारण ही नहीं था बल्कि यह सामाजिक प्रतिष्ठा का भी प्रतीक था। शासन में राजनीतिक सत्ता एवं पद प्राप्त करने के बावजूद, मराठा हमेशा अपने मूल गांव वतन को रखना अधिक पसंद करते थे जो राजनीतिक सत्ता की तुलना में स्थायी था। अस्थायी भू-काश्तकारियों जैसे- सरंजम, जागीर और मोकासा के धारक हमेशा इन काश्तकारियों को वतन या ईनाम में तब्दील कराने के इच्छुक रहते थे जिससे ये उनके परिवार के पास शाश्वत काल तक बनी रहे। ग्राम अधिकारियों जैसे – *देशमुखों*, *देशपांडे*, *पाटिलों*, *कुलकर्णियों*

और कोई एक बलूतेदार अर्थात् ग्राम सेवक, विशेषकर महार समुदायों के पास बड़े पैमाने पर भू-जोत हुआ करती थी और उन्हें हकलावाज़म नामक कुछ अधिकार एवं विशेष सुविधाएं मिला करती थीं। प्रशासनिक पदों और विशेष सुविधाओं को मिलाकर वतन कहा जाता था। कृषक समाज में वतनदारों की स्थिति और उनके अधिकारों एवं विशेष सुविधाओं के बारे में ग्रामीण समाज की इकाई में पहले ही विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।

21.2.2 तमिल क्षेत्र में भूमिपति अभिजात वर्ग

तमिल क्षेत्र में विविध सामाजिक पृष्ठभूमि वाले कृषक अभिजात वर्ग थे जिनकी कृषक समाज में और विभिन्न राज्यों के राजनीतिक तंत्र में स्थिति निरंतर बदलती रही। छठी शताब्दी के बाद से नदी घाटियों में ऐसी शाही पहल पर ब्रह्मदेयों और मंदिरों का प्रसार हुआ जिसने अर्थ-व्यवस्था और सामाजिक ढांचे के पुनर्निर्माण एवं एकीकरण के लिए इन दो संस्थाओं की सामर्थ्य को पहचाना। इसीलिए भूमिपति ब्राह्मण अभिजात वर्ग का उद्भव हुआ। चूंकि वे बेहतर सिंचाई प्रौद्योगिकी और कृषि तकनीकों के जानकार थे इसलिए उन्हें दी गई जमीनें निर्जन क्षेत्रों में कृषि के विस्तार तथा विभिन्न कृषक वर्गों से अतिरिक्त उपज की प्राप्ति का साधन बन गई। ब्रह्मदेयों में ब्राह्मणों का महत्त्व वैदिक-पौराणिक-शास्त्रीय ग्रंथों से ही पता चलता है जिन्होंने जाति संस्था के माध्यम से विभिन्न किसान एवं जनजातीय वर्गों को सामाजिक व्यवस्था में एकीकृत करने के लिए तर्काधार प्रदान किया। इस प्रकार किसानों, स्थानीय सरदारों और अन्य शाही वर्गों को एक साथ जोड़कर ब्राह्मण और ब्रह्मदेय दोनों ने ही शाही विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार के लिए इन संस्थागत माध्यमों का उपयोग किया। नदी घाटियों में ब्रह्मदेयों का प्रसार भी कृषि का विस्तार करने का साधन था। भूमिपति ब्राह्मण वर्ग ने शाही सिंचाई परियोजनाओं को क्रियान्वित किया और इससे उन्हें वेल्लाल समुदाय अर्थात् शक्तिशाली गैर-ब्राह्मण भूमिपतियों के साथ कृषि उपज एवं जल संसाधनों के निस्तरण एवं प्रबंध करने का महत्वपूर्ण अधिकार मिला। इस प्रकार गैर-ब्राह्मण गांवों में भूमिपति ब्राह्मण अभिजात वर्ग ने विभिन्न सामाजिक वर्गों की स्वामिभक्ति को सुनिश्चित करने के लिए शाही रणनीति का संवर्धन किया और विशाल सिंचाई परियोजनाओं के लिए अति आवश्यक श्रम शक्ति उपलब्ध करवाई।

इसके अतिरिक्त राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों ने ग्रामीण समाज के भीतर जातीय समीकरणों को उस समय प्रभावित किया जब ब्रह्मदेयों में ब्राह्मण भूमिपति अभिजात वर्ग के स्थान पर कई गैर-ब्राह्मण वर्गों को शक्तिशाली भूमिपति अभिजात वर्ग में शामिल किया गया। उदाहरण के लिए, तमिल क्षेत्र की निचली कावेरी घाटी में स्थित उक्कल नामक गांव में बारहवीं शताब्दी तक ब्राह्मण समृद्ध भूमिपति थे और कृषि उपज का नियंत्रण करते थे। परंतु तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों तक उन्होंने अपनी भूमि बेच दी जिसका सन्निहित कारण था विजयनगर शासकों द्वारा लगाया गया भारी कर। गैर-ब्राह्मणों ने उक्कल में जमीनें खरीद लीं और इस प्रकार वे चोल शासन के अंत तक गांव के नये भूमिपति वर्ग के रूप में उभरे।

चोल शासन काल में नट्टावर या नट्टार नामक प्रभावशाली गैर-ब्राह्मण भूमिपति वर्ग था। इसका अर्थ है नाडुओं के निवासी परंतु अभिलेखों में केवल नाडुओं के

प्रभावशाली प्रतिनिधियों का ही उल्लेख मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नट्टावर भूमिपति अभिजात वर्ग के थे और बड़े भूमिपतियों के प्रतिनिधि थे। वे करों की वसूली करते थे, बंधुआ मजदूरों को काम पर रखते थे और इन्हें शोषक वर्ग के रूप में चित्रित किया गया है। (नोबोरु काराशीमा (1994), *टुवर्ड्स ए न्यू फॉर्मेशन साऊथ इंडियन सोसाइटी अंडर विजयनगर रुल*, नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 42-61) उनका वास्तव में स्थानीय उपज पर नियंत्रण था और उनके अधीन छोटे-छोटे भूमिपति, किसान और संभवतः कारीगर एवं व्यापारी हुआ करते थे। नट्टावर मंदिरों में पूजा और मरम्मत कार्य के लिए धन का नियंत्रण करते थे। उनकी शक्ति स्थानीय क्षेत्र में गहराई से जमी हुई थी। चोल शासन काल के नट्टावर मुख्यतः वेल्लाल थे और वे एक दूसरे से भाई-बंधव संबंधों से जुड़े हुए थे। कुछ स्थानीय वेल्लाल भूमिपति समुदाय बड़े भूमिपतियों के रूप में उभरे और उन्हें नाडुडईयन या नाडालवन जैसी पदवियां प्राप्त थीं। उनमें से कुछ लोगों को आर्यन जैसी पदवी भी प्राप्त थीं जिसका प्रयोग बाद में चोल शासन काल में बड़े भूमिपतियों द्वारा किया गया। नट्टावरों में पिल्लई, मुदलई, रेड्डी और वणिया शामिल थे।

विजयनगर शासन काल में भू-जोत प्रणाली में परिवर्तन होने से और प्रवासियों की संख्या बढ़ जाने से उनकी स्थिति में काफी बड़ा परिवर्तन आया। नट्टावर वर्गों में से एक, वणिये चौदहवीं शताब्दी के बाद से विजयनगर सेना में भर्ती हो गए। उन्हें कनियाची अधिकार या कई गांव के मालिकाना अधिकार दिए गए और वे स्थानीय प्रमुख गए। जहां चोल शासन काल के नट्टावर अधिकतर वेल्लाल थे, वहीं विजयनगर साम्राज्य में वे विभिन्न समुदायों के जैसे- कारीगर, व्यापारी, आदि हुआ करते थे। नट्टावरों की शोषक अभिवृत्ति का पता उन अभिलेखों से लगता है जिनमें वलनगई इडनगई वर्गों द्वारा, जो वामपंथी एवं दक्षिणपंथी जातियां हैं (इनके बारे में अगले भाग में चर्चा की जाएगी), जिनमें कृषि उत्पादक और व्यापारी शामिल हैं, भूमिपतियों और वणियों के खिलाफ 1429 में विद्रोह किए जाने का उल्लेख है। (नोबोरु काराशीमा, 1994, पृ. 57) उसके बाद से नट्टावरों की शक्ति काफी कम हो गई और सोलहवीं शताब्दी तक नायक शासन का एकीकरण होने से नट्टावर सीमित हो गए, हालांकि उनमें से कुछ प्रशासन एवं ग्रामीणों के बीच स्थानीय कड़ी के रूप में काम करते रहे।

नट्टावर प्रायः मंदिरों को अनुदान में नायकों के साथ सहयोग करते थे परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी स्थिति का ह्रास हो गया क्योंकि जो कर वे वसूल किया करते थे जैसे – *नट्टू-विनियोगम*, *नट्टू-कनिक्कई*, *नट्टायम* सोलहवीं शताब्दी के अभिलेखों में दिखाई नहीं देते। इसके अलावा, विजयनगर शासन काल में स्थानीय कृषि उत्पादन के लिए क्षेत्रीय इकाई के रूप में नाडु का महत्व भी कम हो गया था। संभवतः इसका कारण नया व्यापारिक केंद्र पेट्टई का उदय या नायक्कट्टुमों की स्थापना होने से स्थानीय उत्पादन पद्धति को मान्यता प्राप्त होना था। हालांकि नट्टावर शब्द का प्रयोग किया जाता रहा, परंतु स्थानीय प्रशासन की वास्तविक इकाई नाडुओं से हस्तांतरित होकर पररु नामक क्षेत्र में चली गई। परिणामस्वरूप कई स्थानीय क्षेत्रों में नट्टावरों का स्थानीय क्षेत्र के भूमिपतियों की कॉरपोरेट इकाई के रूप में मूल स्वरूप नष्ट हुआ होगा।

इस प्रकार कृषि अभिजात वर्ग का बहुसामुदायिक संघटन उभर कर आया जिसके कारण स्थानीय समाज का संबंध राजनीतिक अधिकारियों के साथ स्थापित हुआ। कृषि क्षेत्रों के विकास में महत्वपूर्ण नगरों के आसपास के उप-क्षेत्रीय कृषि क्षेत्रों के निर्माण में इन विविध कृषक समुदायों का योगदान रहा। नाडुओं की मध्यकालीन संरचना के स्थान पर उप-क्षेत्रों का समूह बना जिसे परिवहन एवं संचार के माध्यमों वाले नगरों के पृष्ठ (भीतरी) प्रदेश के रूप में परिभाषित किया जाता है।

21.2.3 पलयिककरण

सोलहवीं शताब्दी में, ग्रामीण भूमिपति अभिजात वर्गों के बीच योद्धा किसान समुदाय भी थे। शुष्क उच्च भूमि क्षेत्रों में, किसानों का शिकारियों एवं चरवाहों के साथ संघर्ष हुआ, परंतु बाद में ये लोग भी किसान समुदाय में शामिल हो गए। इन परिवर्तनों के कारण योद्धा किसान वर्ग का उद्भव हुआ जो आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से शक्तिशाली थे और संघटन की दृष्टि से मुख्यतः गैर-ब्राह्मण एवं तेलुगु भाषी थे। बाद में इन योद्धा किसान वर्गों का विकास पलयिककरण या पॉलिगार के रूप में हुआ। इसका कारण यह था कि सोलहवीं शताब्दी में इन्हें पलैयम नामक सैनिक शिविरों का प्रभारी बनाया गया। बाद में ये शिविर 'छोटे रजवाड़े' बन गए जिनमें तीन गांव से लेकर लगभग 2000 वर्ग मील तक के क्षेत्र शामिल होते थे। संभवतः ये स्थानीय सरदारों अरईयों के उत्तराधिकारी थे। निकोलस डर्क्स उनका उल्लेख 'छोटे राजाओं' के रूप में करता है। पलयिककरणों में मुख्यतः तेलुगु, कन्नड़, कलड़ी, कल्लार, वोक्कालिग, मारवा, वाडुगा आदि शामिल थे। योद्धा सरदारों ने बड़े पैमाने पर भूमि का सुधार किया और उसे नगरों के रूप में विकसित किया। वे किसानों, कारीगरों एवं व्यापारियों के ऊपर भारी कर लगाया करते थे जिसके कारण प्रायः गांवों में तनाव की स्थिति पैदा हो जाया करती थी। इन पॉलिगारों के उद्भव के कारण पुराने तमिल किसान एवं भूमिपतियों; विशेष रूप से पहले से स्थापित ब्राह्मण विस्थापित हो गए और भूमिपतियों का एक नया वर्ग उभरा।

सत्रहवीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य का पतन होने और अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नायकों की स्थिति में ह्रास होने से छोटी राजनीतिक व्यवस्थाओं वाले इन पलयिककरणों को महत्व मिला। उनके लिए जातीय एवं क्षेत्रीय स्वामिभक्ति महत्वपूर्ण थी क्योंकि भाई-बांधव संबंध तंत्र के आधार पर उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। विशेष रूप में मदुरई के नायकों ने पॉलिगारों को शासक अभिजात वर्ग में लाने का प्रयास किया था।

21.3 वलनगई-इडनगई समूह (दक्षिणपंथी-वामपंथी जातियां)

कृषि का विस्तार होने से विशेष रूप से, गैर-ब्राह्मण गांवों में, निजी एवं मंदिर की भूमि से संबंधी सौदों में वृद्धि हुई। इसके कारण प्रमुख कृषि समुदाय के रूप में तथा निचले किसान वर्गों के रूप में वेल्लालों का महत्व बढ़ने से भूमि अधिकारों का स्तरीकृत ढांचा निर्मित हुआ। कृषक स्तर भेद ने कृषक समुदाय के भीतर तनाव को बढ़ाया। साथ ही शहरी केंद्रों का विकास होने और व्यापारिक गतिविधियों के बढ़ जाने से नगरमों, व्यापारियों, शिल्पकारों एवं बुनकरों, विशेषकर कैक्कोलाओं का महत्व बढ़ गया। इस प्रकार विभिन्न गैर-ब्राह्मण वर्गों का सामाजिक महत्व बढ़ जाने

से ऊंची जाति में शामिल होने की प्रक्रिया शुरू हुई, विशेष रूप से कारीगर मंदिरों में सम्मानजनक धार्मिक स्थान मिलने से द्विजा जातीय स्थिति में शामिल होने का दावा करने लगे। बारहवीं शताब्दी में इस सामाजिक गतिशीलता के कारण 'सामाजिक संकट' पैदा हो गया। इस सामाजिक संकट को बढ़ाने वाला संघर्ष आमतौर पर कारीगरों एवं किसानों के बीच, कैक्कोलाओं एवं सैलियाओं जैसे कारीगरों की उप-जातियों के बीच, पर्वतीय एवं वन क्षेत्रीय लोगों के बीच तथा विभिन्न व्यापारी वर्गों के बीच हुआ। मौजूदा सामाजिक ढांचा कमजोर पड़ गया और गैर-ब्राह्मण समुदायों का क्रिस्टलीकरण हो जातीय समाज के पारंपरिक ढांचे के भीतर वलनगई (दक्षिणपंथी जातियों) और इडनगई (वामपंथी जातियों) के रूप में दोहरा ऊर्ध्वाधर विभाजन हुआ। परंतु वेल्लाल और ब्राह्मण इस दोहरे विभाजन से अलग रहे। इसके अलावा 1429 में उस समय भी सामाजिक तनाव बढ़ा जब वलनगई और इडनगई वर्गों ने ब्राह्मणों एवं वेल्लालों के खिलाफ विद्रोह किया।

21.4 व्यापारी एवं कारीगर

कृषि का विस्तार होने का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि नौवीं शताब्दी में वाणिज्यिक क्रियाकलापों में वृद्धि हुई जिसके कारण बाजार केंद्रों, नगरम, का विकास हुआ और उनके बीच एक नेटवर्क स्थापित हुआ जिसने नगरों और गावों को महानगरम, आमतौर पर शाही केंद्र और पत्तन से जोड़ा। स्थानीय एवं अंतर्देशीय व्यापार की वाणिज्यिक गतिविधियां बढ़ने से नये व्यापारिक केंद्र एवं शहरी केंद्र बने जिन्होंने दूर-दराज के एवं नये विजित क्षेत्रों को केंद्रीय क्षेत्रों एवं तटीय क्षेत्रों से जोड़ा। शिल्प कार्यों तथा व्यापारिक संघों जैसे अय्यावोल 5000, तमिल तिसाई अईस्तू अईन्नुरुवर, विदेशी व्यापारी संगठन, अंजुवन्नम ने व्यापारिक समुदाय को विविध सौदागरों, व्यापारियों, कारीगरों, शिल्पकारों एवं यायावर व्यापारियों के वर्गों से जोड़ा। नौवीं शताब्दी में प्रचलित हुआ एक ऐसा ही प्रमुख व्यापारिक समुदाय नगरट्टार था जिसके सदस्यों ने अपने नाम के पीछे चेट्टी शब्द लगाया। व्यापारिक समुदाय प्रायः कृषि में निवेश करते थे, मंदिरों को दान देते थे, एकता के संबंधों को मजबूत करते थे और परस्पर निर्भरता को बढ़ाते थे। ऐसे ही एक बुनकर समुदाय कैक्कोलाओं के मंदिरों के साथ विशिष्ट संबंध थे और यह समुदाय ऐसा महत्वपूर्ण सामाजिक वर्ग बन कर उभरा जिसे धार्मिक परंपराओं ने उदार दृष्टिकोण दर्शाने के लिए शामिल करने का प्रयास किया। कई स्थानों पर कैक्कोलाओं ने अपने सशस्त्र दल बनाए और 'व्यापारी योद्धाओं' के रूप में उभरे।

नौवीं शताब्दी तक, *ब्रह्मदेयों* एवं मंदिरों के समूह शहरी विकास के केंद्रों के रूप में विकसित हो गए थे। इस प्रकार उन्होंने गांवों, शहरी केंद्रों एवं शाही राजधानी, विविध जनसमुदाय एवं धर्मों को जोड़कर एक ही परिसर के भीतर लाने का काम किया। कांचीपुरम एवं तंजावुर के बहु-मंदिर परिसर महत्वपूर्ण राजनीतिक-शहरी केंद्रों के रूप में उभरे। तंजावुर में मंदिर के आर्थिक क्षेत्र में समूचा चोल राज्य एवं श्रीलंका का उत्तरी हिस्सा भी शामिल था। प्रवास के कारण हुए विभिन्न व्यापारिक वर्गों और बुनकरों के अभ्युदय के बारे में इस इकाई के प्रारंभ में चर्चा की जा चुकी है।

आठवीं एवं नौवीं शताब्दी के बाद से अरब व्यापारियों के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित होने से कोरोमंडल तट में कई नगरों का विकास हुआ। इस तटीय क्षेत्र में

पुलिकट, कराईकल, नागोर नागापट्टिनम कुछ विख्यात व्यापारिक स्थल थे। चूंकि इनमें से अधिकांश तटीय नगरों के अरब प्रायद्वीप तथा हिंद महासागर के साथ व्यापारिक संबंध थे इसलिए उनकी पहचान दक्षिण भारत में 'सुव्यवस्थित इस्लामिक केंद्रों' के रूप में की गई। तेरहवीं शताब्दी तक तमिल भाषी मुस्लिमों की काफी बड़ी संख्या यहां देखी जा सकती है। मुस्लिम व्यापारी रत्नों, मोतियों, सूती वस्त्रों और सबसे महत्वपूर्ण, घोड़ों का व्यापार करते थे जिनकी सप्लाई पांड्या, चोल और विजयनगर राज्यों को की जाती थी। इन व्यापारियों के दक्षिण-पूर्व एवं पश्चिम एशिया से सुविकसित अंतरराष्ट्रीय संबंध थे। समुद्री व्यापारिक नगरों पर सुन्नी व्यापारिक परिवारों का वर्चस्व था जो मराईक्कायार कहलाते थे। वे मुख्यतः जहाजों के मालिक होते थे। सुन्नी मुस्लिमों का इन नगरों में एक और वर्ग लब्बाइयों का था। वे पेशे से मोती निकालने वाले गोताखोर, मछुआरे, बुनकर एवं कारीगर हुआ करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में तमिल व्यापारिक नगरों में प्रवास होने से नवाईयत नामक दक्खनी भाषी मुस्लिमों का एक वर्ग बना। नवाईयत अभिजात शफाई मुस्लिम थे जो सत्रहवीं शताब्दी में दक्खन में मुगल सेवा में थे। दक्खन के मुगल आधिपत्य के कारण पठान योद्धाओं, पठान व्यापारियों और कारीगरों का दक्षिण भारत में प्रवास हुआ जिनमें से कई कोरोमंडल तट के समुद्रतटीय नगरों में बस गए। (सूसन बेली, *सेंट्स, गॉडेसिस एंड किंग्स : मुस्लिम्स एंड क्रिश्चियन्स इन साउथ इंडियन सोसाइटी 1700-1900*, कैम्ब्रिज, 1992, पृ. 71-103)

21.5 धार्मिक समूह

मध्यकाल में कई धार्मिक समूह थे जो मंदिरों, मठों, खानकाहों एवं दरगाहों से संबद्ध थे। उनमें से कई लोगों का लोकप्रिय सामाजिक आधार था और उनमें से कुछ अपने अनुयायियों में विशिष्ट हुआ करते थे। इन धार्मिक समूहों में दो समूह बहुत महत्वपूर्ण थे – सूफी तथा मंदिरों से संबद्ध मठ एवं संप्रदायवादी नेता। सामाजिक वर्ग के रूप में सूफियों के अभ्युदय और उनकी बढ़ती हुई शक्ति के बारे में चर्चा अगले भाग में की गई है।

दक्खन में, दरबार एवं विभिन्न सूफी सिलसिलों के बीच सूफियों एवं उलेमाओं के बीच तथा सूफियों एवं वृहत्तर समाज के बीच मिश्रित नेटवर्क ने सूफियों के लिए धार्मिक चिंतन में लगे धार्मिक संतों की तुलना में अधिक व्यापक मार्ग प्रशस्त किया। कुछ सूफी रूढ़िवादी समूहों के रूप में उभरे जिनका लक्ष्य इस्लाम को लोक तत्वों से अलग करके शुद्ध करना था। कुछ सूफी महत्वपूर्ण लेखक भी थे। उन्होंने काफी रहस्यवादी एवं लोक साहित्य की रचना की जो गैर-अभिजात वर्गों, विशेषकर गैर-मुस्लिमों को एकीकृत करने के महत्वपूर्ण साधन बने। एक और प्रकार के सूफी थे जो शासन द्वारा अनुदान में दी गई भूमि को स्वीकार करके भूमिपति अभिजात वर्ग या इनामदार के रूप में उभरे। इन भूमिपति सूफियों को पीरजादा कहा जाता था जिसका शब्दिक अर्थ था संत के रूप में जन्मा हुआ व्यक्ति। इन सूफियों के लिए दरबारी राजनीति, शाही व्यवहार और संरक्षण महत्वपूर्ण था। इस प्रकार की रूढ़िवादिता तथा दरबारी संरक्षण की प्राथमिकता के विरुद्ध कुछ सूफियों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की। इन सूफियों को दरवेश कहा जाता था जो आध्यात्मिक कट्टरपंथी से लेकर आस्था रहित तक हुआ करते थे। वे पीरजादा इनामदारों के विरोधी थे क्योंकि उन्हें लगता था कि वे कुछ ज्यादा ही समझौतावादी हैं। दरवेशों

ने इस्लामी रूढ़िवादिता और उसकी शहरी भौतिकतावादी प्रवृत्ति को टुकराया और जगत के 'संरचनात्मक संबंधों' से आंशिक या पूर्ण रूप से नाता तोड़ दिया। सूफियों ने कभी भी धर्म परिवर्तन नहीं किया। सूफी मुस्लिम मिशनरी नहीं थे क्योंकि उन्होंने गैर-मुस्लिमों को अनुयायी बनाने का कोई सचेत प्रयास नहीं किया। नियमित रूप से दरगाहों और धर्म स्थलों पर जाने वाले अधिकांश लोग आमतौर पर मामूली सामाजिक पृष्ठभूमि वाले थे और वे धीरे-धीरे इस्लाम के प्रभाव में आ गए थे।

इस काल में मंदिरों के साथ-साथ मठों को भी महत्व मिला। मंदिर के वृहत्तर ढांचे के भीतर शक्तिशाली संस्था के रूप में मठ या तो प्रतिस्पर्धी इकाई एवं मंदिर के अधिकारी हुआ करते थे या उनके साथ विभिन्न लेन-देनों में भाग लिया करते थे। धार्मिक नेता या आचार्य एवं मठाधिपति स्थानीय जनता तथा नये शासक वर्ग के बीच महत्वपूर्ण कड़ी हुआ करते थे। परिणामस्वरूप, नव विजित क्षेत्रों में पर राजनीतिक सत्ता की स्थापना में मदद मिली। देवी-देवताओं के नाम पर अनुदान दिए जाते थे और धार्मिक नेता या आचार्य तथा मठाधिपति ऐसे साधन हुआ करते थे जिनके माध्यम से अनुदान दिया जाता था। बदले में उन्हें शासक वर्ग से विशेष सुविधाएं मिला करती थीं और मंदिर के संगठन एवं प्रशासन पर उनका अधिक नियंत्रण रहता था। इस प्रकार इन धार्मिक नेताओं ने समाज पर धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक नियंत्रण स्थापित किया और स्वयं को समुदाय के महत्वपूर्ण व्यक्तियों के रूप में स्थापित किया। गुरु अनुयायियों के बड़े समूह का नियंत्रण करता था और इस प्रकार समाज के विभिन्न वर्गों को समुदाय की मुख्य धारा में लाने में कड़ी का काम करता था। गुरु ने समुदाय में शिष्य परंपरा की शुरुआत की और अपनी विचारधारा का प्रसार करने में महत्वपूर्ण माध्यम बने। आचार्य पुरुषों और मठाधिपतियों के पास अपने-अपने कर्मचारी वर्ग हुआ करते थे और किसी अन्य राजनीतिक प्रणाली के समान भर्ती एवं संगठन की प्रणाली हुआ करती थी। जियारों और आचार्यों का प्रभाव इतना अधिक था कि उनकी पूजा अर्चना तक की जाती थी।

21.6 दक्खन में सूफीवाद

सूफीवाद का संबंध इस्लाम के भीतर विभिन्न रहस्यवादी प्रवृत्तियों से है। सूफीवाद का मुख्य उद्देश्य कुरान की आध्यात्मिक भावना के आधार पर ईश्वर के साथ सीधे समागम करने का धार्मिक अनुभव विकसित करना है। सूफी शरीयत को स्वीकार करते समय केवल धार्मिक पूजा पद्धति के औपचारिक अनुपालन तक सीमित नहीं थे। ईश्वर के साथ धार्मिक संबंध बनाने में सूफियों ने शेख, पीर या मुर्शिद के रूप में विख्यात किसी आध्यात्मिक गुरु के मार्ग-दर्शन में सूफी पथ, तरीका का मनन करने के महत्व की वकालत की। शेखों ने स्वयं भी सूफी मार्ग को सफलतापूर्वक अपनाया और ईश्वर के साथ सीधा संबंध स्थापित किया। शिष्य को मुरीद कहा जाता था जिसे तीन अवस्थाएं पार करनी होती थी मकामत, परिवर्तनशील मनोवैज्ञानिक स्थितियां, हाल एकाग्रचित्त होने के लिए, जिक्र, ईश्वर के साथ समागम करने के लिए।

भारत में और भारत के बाहर सूफीवाद के भीतर कई मत विकसित हुए जिन्हें सिलसिला कहा जाता था, जिनकी अपनी-अपनी विशिष्टताएं थीं। सूफी

क्रियाकलापों का केंद्र खानकाह या आश्रम हुआ करते थे जहां पीर अपने मुरीदों को आध्यात्मिक प्रशिक्षण दिया करते थे। खानकाह की ख्याति उसके पीर की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती थी। मध्यकाल में कुछ विख्यात सिलसिलों में सुहरावर्दी, चिश्ती, कादरी और शक्तारी थे। इनमें से सुहरावर्दी सिलसिले को छोड़कर शेष सिलसिले उत्तर भारत एवं दक्षिणी क्षेत्रों में फले-फूले। सूफियों ने रहस्यवादी चरम अवस्था को प्रेरित करने के लिए जोशपूर्ण गायन समा आयोजित किए। परंतु समा के स्वरूप के संबंध में सूफी सिलसिलों में मतभेद था।

तेरहवीं शताब्दी की शुरुआत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ, विभिन्न सूफी सिलसिले मध्य एशिया से भारत आए जो उनका मूल स्थान था। बगदाद में मंगोलों के आक्रमण से, जिसके कारण शहर ध्वस्त हो गया था, और 1258 ई. में मंगोलों द्वारा अब्बासिद खलीफा को फांसी दिए जाने से असुरक्षा और उत्पीड़न की स्थिति पैदा हो गई थी। इन परिस्थितियों के कारण अन्य शरणार्थियों के साथ-साथ सूफी भी भारत आए। उन्होंने भारत के दक्खन सहित विभिन्न क्षेत्रों में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में कई खानकाह स्थापित किए। हालांकि ईरानी एवं मध्य एशियाई दर्शन और प्रथाओं के तहत उदय हुए थे, सूफीवाद जैसा भारत में विकसित हुआ, उस पर इस महाद्वीप के परिवेश का प्रभाव पड़ा। विभिन्न सिलसिले विविध सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से जुड़े हुए थे और अपने-अपने तरीके से उस परिप्रेक्ष्य से प्रभावित हुए। इसलिए प्रत्येक सिलसिले की अपना भिन्न विकास, गतिरोध एवं पुनरुत्थान संबंधी अवस्थाएं हैं।

सूफी सिलसिले की तीन अवस्थाएं

विद्वानों ने (जे.एस. त्रिमिंघम, *द सूफी ऑर्डर्स इन इस्लाम*, ऑक्सफोर्ड, 1971) ने सूफी सिलसिलों की तीन अवस्थाएं बताई हैं :

- 1) **खानकाह अवस्था** : नौवीं से बारहवीं शताब्दी तक यह अवस्था सूफी रहस्यवाद का समय था जब धार्मिक विषयों पर चिंतन मनन और आत्म विश्लेषण ने रहस्यवादी साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना की। सूफी सादा एवं प्रायः संयमित जीवन व्यतीत करते थे। सूफी सिलसिले अस्तरीकृत थे जिनमें गुरु और शिष्य के बीच संबंध औपचारिक नहीं थे और न ही गुरु ने किसी भी प्रकार से ईश्वर और शिष्य के बीच मध्यस्थ होने का दावा किया।
- 2) **तरीका अवस्था** : तेरहवीं शताब्दी के बाद से सूफी सिलसिलों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। रहस्यवादी पद्धतियों को, जो ईश्वर के साथ समागम करने का साधन थी, विशिष्ट आध्यात्मिक साधना के माध्यम से व्यवस्थित किया गया। आध्यात्मिक परंपराएं या सिलसिले विशिष्ट विचारधारा के थे और उनके अपने-अपने संस्थापक थे। व्यक्ति को पीर से आध्यात्मिक निष्ठा, बैयत की कसम खानी पड़ती थी। पीर विशेष आध्यात्मिक परंपरा का प्रतिनिधि होता था और खानकाह का प्रधान होता था। आध्यात्मिक परंपराएं सीधे प्रॉफेट तक जाती थीं। निष्ठा (*बैयत*) से कई धार्मिक कर्मकांड जुड़े थे जैसे- खिलाफतनामा (लिखित प्रमाण-पत्र), खिरका (पैबंद लगा लबादा) और आध्यात्मिक उत्तराधिकार से संबंधित अन्य वस्तुओं का दान। इस प्रकार इस दीक्षा में औपचारिक समारोह आयोजित करके पवित्रीकरण करना था।

गुरु-शिष्य संबंधों को औपचारिक रूप दिए जाने से एक नए स्तरीकरण का उदय हुआ। पीर की पूजा-सेवा महत्वपूर्ण हो गई। पीर अब ईश्वर और मनुष्य के बीच मध्यस्थ बन गया और संत या वली बन गया जिसका शाब्दिक अर्थ है ईश्वर का दोस्त। इस प्रकार सूफी सिलसिले धीरे-धीरे आध्यात्मिक संप्रदाय से बदल कर संत केंद्रित संप्रदाय बन गए जिनमें पीर की आध्यात्मिक शक्ति या बरकत महत्वपूर्ण थी। जैसे ही यह व्यवस्था बनी सिलसिला पारिवारिक संबंधों पर आधारित हो गया जिसमें पीर के परिवार के लोग उत्तराधिकारी बने। भारत में उन्हें पीरजादा अर्थात् पीरजन्मा कहा जाता था।

- 3) ताइफा अवस्था इस अवस्था का विवेचन पंद्रहवीं शताब्दी के बाद से किया जा सकता है। संत को योग्य बनाने वाली बरकत या आध्यात्मिक शक्ति उसकी कब्र तक संचरित होती थी। यह कब्र बाद में मकबरा बन जाती थी। दरगाह के रूप में विख्यात ये मकबरे धार्मिक यात्रा के आकर्षण केंद्र बन गए। इसलिए सूफीवाद ने अब एक भक्ति आंदोलन का रूप ले लिया। इस भक्ति का उद्देश्य था संत बनना। यह अब मात्र रहस्यवादी आंदोलन नहीं रहा। संत संप्रदाय ऐसे आम आदमी को काफी आकर्षित करते थे जिसके लिए रहस्यवाद एवं आध्यात्मिकता के अमूर्त विचारों को समझ पाना मुश्किल होता था।

परंतु इस वर्गीकरण की अपनी कुछ सीमाएं थीं। इससे सूफियों के उलेमाओं, दरबारों और गैर-मुस्लिमों के साथ संबंधों को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। कुछ सूफियों का संबंध एक से अधिक सिलसिलों से था, जबकि दूसरों का संबंध भले ही उसी सिलसिले से होता था किंतु वे समाज के साथ बिल्कुल विपरीत ढंग से व्यवहार करते थे। (रिचर्ड ईटन (1978), सूफीज़ ऑफ बीजापुर, 1300-1700: सोशल रोलस ऑफ सूफीज़ इन मीडिवल इंडिया, प्रिंसटन)

21.6.1 दक्खन में सूफीवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास : चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक

1327 ई. में, दिल्ली सल्तनत के तुगलक शासक सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली से बदलकर दक्खन में स्थित दौलताबाद में स्थानांतरित करने का आदेश दिया। इस स्थानांतरण के साथ दिल्ली के निवासियों को भी स्थानांतरित किया जाना था। इनमें से एक वर्ग सूफियों का था जिन्हें स्थानांतरित होने का आदेश सुनाया गया था। चिश्ती सिलसिले के शेख बुरहानुद्दीन गरीब (मृ. 1340 ई.) एक ऐसे ही विख्यात सूफी थे। जो दौलताबाद स्थानांतरित हो गए और बाद में उन्होंने उसे अपनी गतिविधियों का केंद्र बना लिया इस प्रकार वहां चिश्ती सिलसिले की शुरुआत हुई। स्थानांतरित होने वालों में एक और विख्यात सूफी संत गेसुदराज थे। गेसुदराज उस समय बच्चे थे। परंतु कुछ समय बाद शायद वह दिल्ली केवल इसलिए वापस आया कि वह लंबे समय के लिए दक्खन में जाकर रह सके। जब दिल्ली पर 1398 में तैमूर आक्रमण के समय गेसुदराज ने दिल्ली छोड़ दी।

सभी सिलसिलों में, उत्तर और दक्खन दोनों में विशेष रूप से बहमनी सुल्तान के शासन काल में (1347-1489 ई.) में चिश्ती सिलसिले की ख्याति सबसे ज्यादा थी। चिश्ती सिलसिले का उद्भव हेरात में हुआ था और भारत में इसकी शुरुआत

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती द्वारा की गई थी जो भारत आकर अंततः 1206 में अजमेर में आकर बस गये थे। उनके काफी बड़ी संख्या में मुस्लिम और गैर-मुस्लिम अनुयायी थे। उनके उत्तराधिकारी दिल्ली में बख्तियार काकी थे और राजस्थान के नागौर में हमीदुद्दीन नागौरी थे। बख्तियार काकी के कई विख्यात वंशज थे। उसका आसन्न वंशज ख्वाजा फरीदुद्दीन मसूद थे जिसे गंजशकर या बाबा फरीद के नाम से भी जाना जाता था। अंत में वह पंजाब के अजोधन में बस गये थे। बाबा फरीद के शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया थे (1236-1325) जिन्होंने दिल्ली को चिश्ती सिलसिले का सबसे प्रसिद्ध केंद्र बनाया बाद में उनके उत्तराधिकारियों ने चिश्ती सिलसिले को देश के दक्खन सहित विभिन्न क्षेत्रों में फैलाया। शेख बुरहानुद्दीन गरीब निजामुद्दीन औलिया के उत्तराधिकारी थे। मोहम्मद बिन तुगलक के शासन काल में दिल्ली में नसीरुद्दीन चिराग-ए दिल्ली जैसे कुछ चिश्ती संत भी विख्यात थे। परंतु चिश्ती सिलसिले के नसीरुद्दीन चिराग अपनी मृत्यु के बाद चूंकि कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया था, इसलिए उनके पश्चात् यहां कोई प्रभावशाली चिश्ती सूफी नहीं हुआ। गेसुदराज उन्हीं के एक शिष्य थे।

दिल्ली सल्तनत के पतन के साथ ही सूफी अधिक सशक्त प्रांतीय राज्यों में इधर-उधर फैल गए और उन्होंने अपने-अपने खानकाह स्थापित किए। सूफियों को आकर्षित करने वाला ऐसा ही एक क्षेत्र दक्खन का पठारी क्षेत्र था। सूफियों के विशेष रूप से चौदहवीं एवं पंद्रहवीं शताब्दियों में दक्खन क्षेत्र में प्रवास को बहमनी शासन की स्थापना और बाद में दक्खन में पांच सल्तनतों - बीजापुर के आदिल इमाद शाही (1490-1686), अहमदनगर के निजाम शाही (1496), बीदर के बरीद शाही (1504), बरार के इमाद शाही (1510) और गोलकुंडा के कुतुब शाही (1543) की स्थापना के संदर्भ में देखा जा सकता है। बहमनी शासन का संस्थापक हसन बहमन शाह दक्खन में तुगलक प्रांतों के गवर्नरों में से था। उसने तुगलकों शासकों के विरुद्ध अपने को स्वतंत्र घोषित किया, उन्हें बाहर खदेड़ा और एक नये शासन की स्थापना की। पूर्वी एवं दक्षिणी दक्खन के जिन तेलुगु सरदारों ने तुगलकों के खिलाफ संघर्ष किया उनमें से कुछ ने पश्चिमी दक्खन में बहमनी राज्य की स्थापना करने में हसन बहमन शाह की सहायता की। चूंकि बहमन शाह तुगलकों की सेवा में था इसलिए उसे तेलुगु सरदारों के बीच समर्थन जुटाने का राजनीतिक अधिकार एवं विधिक अधिकार मिला और इसीलिए बहमनी शासकों को दक्खन में तुगलकों का उत्तराधिकारी माना गया।

चौदहवीं शताब्दी के उपरांत और पंद्रहवीं शताब्दी में, दक्खन का पठारी क्षेत्र स्थायी राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक केंद्र के रूप में उभरा। दक्खनी संस्कृति का विकास होने से इस क्षेत्र को विशेष पहचान मिली। गुलबर्गा, बीदर और बीजापुर जैसे शहर राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र थे। इस कारण इसने मुख्यतः शहरी विन्यास वाले सूफियों को भारी मात्रा में आकर्षित किया। उदाहरण के लिए, जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है चिश्ती संत गेसुदराज दिल्ली से गुलबर्गा गये। कई कादरी सूफी अरब से बीदर आए। कई सूफी सफवी ईरान से आए थे। परंतु आदिल शाही राजवंश सोलहवीं शताब्दी तक पूरी तरह सुस्थापित होने के बावजूद सूफियों को लुभाने में विफल रहा क्योंकि इस पर शियाओं का वर्चस्व था जो सूफियों के प्रबल विरोधी थे (रिचर्ड ईटन, 1948, पृ. 286)। कादरी सूफी सुन्नी संप्रदाय से जुड़े हुए थे और शक्तारी सूफी शियाओं के विरोधी थे।

केवल सुल्तान इब्राहिम द्वितीय के शासन (1580-1627) में ही सूफी बीजापुर में प्रवेश कर सके। इसके मुख्य रूप से दो कारण थे। प्रथम, गुजरात और बीदर में सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए आंदोलनों ने कुछ सूफियों को बीजापुर की ओर खदेड़ दिया। दूसरे, शासकीय धर्म में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ जो इश्न-अशरी शियावाद से बदलकर सुन्नीवाद में परिवर्तित हो गया। इसका अर्थ यह था कि राजनीतिक सत्ता विदेशी ईरानियों के हाथ से निकल कर देशी दक्खनियों के हाथ में चली गई। इसके अलावा सुल्तान ने स्वयं उदार दृष्टिकोण अपनाया और मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिम दोनों ही परंपराओं को बढ़ावा दिया। इसीलिए कई सूफी, विशेष रूप से कादरी और शत्तारी सिलसिले बीजापुर की ओर आकर्षित हुए। इनमें से अधिकांश सूफी दक्खन से बाहर, मुख्य रूप से अरब देशों से आए हुए प्रवासियों की प्रथम पीढ़ी के थे।

इसलिए सूफियों के लिए दरबारी राजनीति, शाही रवैया और संरक्षण महत्वपूर्ण थे। आदिल शाही शासन काल में कई मकबरे बनाए गए जिनसे बीजापुर में तरीका से तार्इफा सूफीवाद की ओर संक्रमण का पता चलता है।

इस संबंध में चिश्तियों का दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है क्योंकि पहले ये चिश्ती राजनीति से उदासीन हुआ करते थे परंतु बाद में राजनीति में रूचि लेने लगे और अंततः राज्य एवं उसकी सांसारिक कार्यों से दूरी बनाने लगे। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में, बहमनी शासन काल में, चिश्तियों ने सुल्तान के साथ निकट संबंध बनाए, दरबार का संरक्षण स्वीकार किया और राजनीति में महत्वपूर्ण बन गए। यह उनके दिल्ली में अपनाए गए दृष्टिकोण से अलग था, जहां वे प्रायः दरबारी संरक्षण से इंकार कर दिया करते थे। बहमनी शासकों ने इन सूफियों की आध्यात्मिक शक्ति और समाज के साथ उनके निकट संपर्क तथा इनके प्रख्यात सामाजिक आधार को पहचान कर इन्हें भूमि अनुदान में दी और शानदार सूफी धर्म स्थल बनवाए। इन चिश्तियों में सबसे प्रमुख मोहम्मद बंदा नवाज गेसुदराज (1321-1422) थे। सुल्तान फिरोज शाह बहमनी (1397-1422) ने उन्हें चार गांव दान किए। उनकी मृत्यु के बाद उसके वंशजों को भी बहमनी सुल्तानों से भूमि दान में मिलती रही और अंततः वे दक्खन में भूमिपति अभिजात वर्ग बन गए। सत्रहवीं शताब्दी तक दरगाहों पर विशेष रूप से गेसुदराज का उर्स महत्वपूर्ण उत्सव बन गया जिसमें शासक और गैर शासक वर्ग भाग लिया करते थे। गेसुदराज ने चिश्ती दर्शन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए, विशेष रूप से उन पक्षों में जो उलेमाओं के पक्ष में नहीं थे। वह रूढिवादी सूफी था और उसने समस्त सूफी अवस्थाओं पर शरीयत की सर्वश्रेष्ठता घोषित की।

राजनीति में बदलती हुई प्रवृत्तियों और शाही संरक्षण में बदलाव के कारण अंत में बहमनी शासन में चिश्ती सिलसिले का पतन हो गया। बहमनी राजधानी को गुलबर्गा से हटाकर 1422 में बीदर में बनाने और बीदर में बहमनियों के विदेशी समर्थक एवं दक्खनी विरोधी रवैये ने विदेशी सूफियों के प्रवास को बढ़ावा दिया जिन्हें अब चिश्तियों की कीमत पर संरक्षण दिया जा रहा था क्योंकि चिश्तियों को भी अब 'भारतीय' माना जाने लगा था। उसके बाद पंद्रहवीं शताब्दी के बाद से चिश्ती सत्रहवीं शताब्दी तक दक्खन में फिर से फले-फूले। उन्होंने आदिल शाही शासन की दरबारी राजनीति से स्वयं को दूर कर लिया जैसा कि उनके नये केंद्र,

शाहपुर हिलॉक से पता चलता है जो आदिल शाही की राजधानी बीजापुर के बाहर स्थित था। चिश्तियों ने अपना प्रारंभिक रवैया अपना लिया। उन्होंने दरबार और उलेमाओं से दूरी बनाई और स्थानीय प्रभावों से प्रेरणा ली, इस प्रकार वे दिल्ली के प्रारंभिक चिश्ती संतों जैसे बन गए। इसी कारण अन्य सूफी सिलसिलों की तरह चिश्ती सिलसिले पर आदिल शाही राजनीति में शियाओं और सुन्नियों के बीच साम्प्रदायिक संघर्ष का कोई असर नहीं हुआ क्योंकि वे अब न तो दरबारी संरक्षण पर आश्रित थे और न ही उनकी राजनीतिक कार्यों में कोई रुचि थी। शाहपुर हिलॉक ऐसा एक खानकाह था जहां कई सूफी एक जगह इकट्ठे होते थे – जबकि इसके विपरीत शतारी और कादरी सूफियों के शासन द्वारा संरक्षित शहर में कई शरण स्थल थे।

अठारहवीं शताब्दी तक आदिल शाही सल्तनत का पतन होने, बीजापुर में प्राकृतिक आपदाओं एवं महामारियों तथा मराठा आक्रमण के कारण शहर खंडहर बन गया और शहरी संस्कृति लगभग लुप्तप्राय हो गई। यह सूफियों और सूफीवाद के लिए गहरा धक्का था क्योंकि इनका मुख्य रूप से झुकाव शहरी विन्यास में था जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। बीजापुर में कोई भी खानकाह कार्यरत नहीं रहा। सूफियों के भूमिपति अभिजात वर्ग को, जिन्हें पीरजादा कहा जाता था, राज्य संरक्षण प्राप्त करने के लिए हैदराबाद और औरकॉट जाने के लिए विवश होना पड़ा क्योंकि इसके बिना उनका जीवन-निर्वाह संभव नहीं था। परंतु चिश्ती बीजापुर के बाहर शाहपुर हिलॉक में बने रहे और एक महत्वपूर्ण एवं प्रख्यात सूफी सिलसिले के रूप में उभरे।

21.6.2 सूफियों की राजनीतिक भूमिका

मध्यकाल में राजनीति में बड़े पैमाने पर यह माना जाता था कि सूफी अपनी आध्यात्मिक शक्तियों, बरकत, ईश्वर के साथ अपने सीधे संबंध और अपने विख्यात सामाजिक आधार के कारण शासन को नैतिक वैद्यता प्रदान करने और उन्हें भारतीय-इस्लामिक जगत का वैद्य हिस्सा बनाने का अधिकार रखते थे। शासन को वैद्यता प्रदान करने में सूफियों की यह राजनीतिक भूमिका निम्नलिखित बातों पर आधारित थी :

- 1) सुन्नी मुस्लिमों के लिए, आध्यात्मिक नेतृत्व औपचारिक रूप से खलीफा और अनौपचारिक रूप से सूफियों के पास होता था। परंतु बगदाद में 1298 ई. में मंगोलो के आक्रमण के कारण अब्बासिद खिलाफत का पतन होने से अब सूफियों को ही वास्तव में आध्यात्मिक नेता माना जाने लगा था जिन्हें सुल्तान के नेतृत्व और उसकी संप्रभुता अर्थात् उसकी अपने क्षेत्रों पर हुकूमत को प्रमाणित करने की क्षमता प्राप्त थी।
- 2) सूफी शेख की विलायत या आध्यात्मिक क्षेत्र की कोई क्षेत्रीय सीमाएं नहीं थी। इसलिए यह माना जाने लगा था कि सूफी दुनिया में कहीं भी, किसी भी शासन को नैतिक विधिमान्यता प्रदान कर सकते हैं।
- 3) यदि सूफी शेख किसी शासन को प्रमाणित करते थे तो उस शासन का स्वरूप दार-उल हर्ब अर्थात् युद्ध स्थल से बदलकर दार-उल इस्लाम अर्थात् शांति स्थल बन जाता था जिसका अर्थ था कि अब उस राज्य पर किसी भी

इस्लामिक राजनीतिक शक्ति का आक्रमण नहीं हो सकता और विद्रोह को, जो किसी राज्य की स्थापना का प्रायः आधार बना करता था, उचित ठहराया जा सकता था।

उपर्युक्त बातों का महत्व नये स्थापित राज्य, जैसे बहमनी के लिए विशेष रूप से निर्णायक सिद्ध हुआ जिसके संस्थापक हसन बहमन शाह ने तुगलक शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया और 1347 ई. में सत्ता प्राप्त की। इसके अलावा, इस वैद्यता ने बहमन शाह को अपने राजनीतिक एवं सामाजिक तंत्र का विस्तार करने और उसे सुदृढ़ करने के लिए सैद्धांतिक समर्थन प्रदान किया। इसके परिणामस्वरूप, किसी राजनीतिक व्यक्ति के, विशेष रूप से सूफी शेख की सुल्तान बनने की भविष्यवाणी को वास्तव में नियुक्ति ही मान लिया गया। यह मान लिया गया कि शेख दैवी इच्छा अभिव्यक्त कर रहे हैं क्योंकि उनका पहले से ही राजनीतिक संप्रभुता स्थापित करने में ईश्वर के साथ सीधा संपर्क था। इसका पता हमें दिल्ली में चौदहवीं शताब्दी के चिश्ती संत निजामउद्दीन औलिया की अभिलिखित युक्तियों जैसे तज़क़िरा से चलता है। एक ओर तो सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक उनकी खानकाह पर उनसे मिलकर निकला था और दूसरी ओर तुगलकों की सेवा में लगा हुआ हसन शाह बहमनी बाहर इंतज़ार कर रहा था। इस संबंध में निजामउद्दीन औलिया की यह अभियुक्ति देखी जा सकती है कि, 'एक सुल्तान अभी-अभी मेरे दरवाजे से निकला है, दूसरा दरवाजे पर खड़ा इंतज़ार कर रहा है'। (रिचर्ड ईटन (2000), *एसेज ऑन इस्लाम इन इंडियन हिस्ट्री*, ऑक्सफोर्ड, पृ. 168। इसका साक्ष्य सैय्यद अली तबतबा की बुरहान-ए मासिर और मोहम्मद कासिम फरिश्ता, की तारीख-ए फरिश्ता से लिया गया है)।

जब हसन बहमन शाह ने 1347 में विद्रोह किया और शासक बना तब निजामउद्दीन की भविष्यवाणी का प्रयोग विद्रोह की घोषणा करने और विधिमान्य राज्य की स्थापना करने के लिए सैद्धांतिक व्यवस्था के रूप में किया गया जिसे वृहत्तर समाज की स्वीकृति मिल सकी। हसन बहमन शाह ने इस बात को स्वीकार किया और बहमनी राज्य में कई चिशित्यों को संरक्षण प्रदान किया और निजामउद्दीन के दक्खन में आए शिष्य बुरहानउद्दीन गरीब के धर्म स्थल को प्रचुर मात्रा में दान दिया। यह धर्म स्थल उत्तरी दक्खन में खुलदाबाद में स्थित था। धर्म स्थल को दिए जाने वाले इस दान का अर्थ यह था कि सुल्तान बुरहानउद्दीन गरीब अपने पीर या मालिक दिल्ली के निजामुद्दीन औलिया का भी आभार व्यक्त कर रहा था, विशेषकर उस समय जब दिल्ली तुगलक शासकों के नियंत्रण में थी। यह आभार निजामुद्दीन औलिया की हसन शाह के सुल्तान बनने के बारे में की गई उस भविष्यवाणी को प्रकाश में लाने के लिए था जो शासक की सत्ता का आधार बनी थी।

इस प्रकार चिश्ती शेखों ने दक्खन में शासन के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मध्यकाल में, विशेष रूप से मध्यकालीन दक्खन में राजनीति एवं समाज में *चिशित्यों* को महत्व दिए जाने के कई कारण हैं। जहां अन्य सूफी संतों के मकबरे भारत के बाहर मध्य एवं पश्चिमी एशिया में स्थित थे वहीं चिश्ती संतों के मकबरे उपमहाद्वीप के भीतर स्थित थे। यह महत्वपूर्ण था कि खानकाह, मकबरे और धर्म स्थल धार्मिक यात्राओं तथा सूफी गतिविधियों के केंद्र थे। इससे चिशित्यों को दोहरा लाभ अर्थात् भारतीय होने के साथ-साथ इस्लामिक होने का भी लाभ मिला। चिश्ती सिलसिलों का इस प्रकार का व्यापक दृष्टिकोण दक्खनी राज्यों के लिए

अपनी वैद्यता स्थापित करने तथा राजनीतिक साझीदार बनाने और दक्खनी समाज के स्थानीय लोगों के लिए उपयोगी था जिनके बीच चिश्ती पहले से ही विख्यात थे।

राजनीतिक क्षेत्र में सूफियों की आध्यात्मिक शक्ति की पुष्टि करने वाला दूसरा कारक था - उनकी अत्यधिक गतिशील होने की प्रवृत्ति। जहां दिल्ली सल्तनत ने अपना ही विस्तार किया और दूर-दराज के क्षेत्रों में शाही गवर्नर नियुक्त किए वहीं सूफी शेख, विशेष रूप से चित्त उनके साथ जुड़ गए और उन्होंने इन क्षेत्रों में अपने खानकाह स्थापित किए। ये शाही गवर्नर भावी शासक थे जैसा कि हसन बहमन शाह के मामले में हुआ। इन परिस्थितियों में चिश्ती शेखों ने, जो पहले से ही व्यापक सामाजिक आधार रखते थे, 'स्वयं को नई अनुषंगी भारती मुस्लिम राजनीति में स्वदेशीकृत एवं विधिमान्य बना लिया'।

शासन के अलावा समाज ने भी सूफियों की राजनीतिक शक्ति को पहचाना। अब्दुल-मलि ईसामी की फतुह-उस-सलातीन में लोक प्रचलित दृष्टिकोण की झलक मिलती है। ईसाम के अनुसार सुल्तान का कल्याण और उसके क्षेत्र की समृद्धि सूफी शेखों के आर्शीवाद और सान्निध्य पर निर्भर थी। उसने निजामउद्दीन औलिया का उदाहरण देते हुए लिखा कि उसकी 1325 में मृत्यु से दिल्ली में अस्त-व्यस्तता फैल गई। इसके अलावा दक्खनी पठार में दौलताबाद उस समय समृद्धशाली बन गया जब बुहरहानउद्दीन गरीब वहां आकर बस गए। उनके उत्तराधिकारी शेख जैनउद्दीन शिराजी थे जो हसन शाह बहमनी के समकालीन थे।

परंतु सुल्तान और सूफी संतों के बीच अन्योन्याश्रित संबंध होने के बावजूद संघर्ष और विरोधों ने भी इस संबंध में तनाव उत्पन्न किया। सबसे आध्यात्मिक सत्ता, जिसके आधार पर भविष्यवाणी की गई थी और वैद्यता प्रदान की गई थी, शेखों और सुल्तानों के बीच संघर्ष का कारण बन गया। उदाहरण के लिए, फिरोज शाह बहमनी (1397-1422) और गेसुदराज में कई मतभेद थे। सबसे महत्वपूर्ण मतभेद उत्तराधिकार का था जिसने दोनों के बीच संबंधों में जहर घोल दिया। सुल्तान अपने पुत्र हसन शाह को शेखों द्वारा उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त करना चाहते थे और शेख पूरी तरह सुल्तान के छोटे भाई के पक्ष में थे। इस कारण सुल्तान ने स्थानीय रूप से खलीफत अल रहमान के रूप में विख्यात एक धार्मिक मुस्लिम के मकबरे और धर्म स्थल को संरक्षण देना शुरू कर दिया। सुल्तान ने बाबा कमाल मुजर्रद का भी समर्थन किया, जिसका मकबरा गुलबर्गा में सुल्तान के मकबरे के सामने बना। परिणामस्वरूप इसने गेसुदराज को हाशिये पर डाल दिया।

21.6.3 सूफियों की सामाजिक भूमिका

(क) सूफी प्रचारक के रूप में : सूफियों ने अपने उपदेशों का प्रचार गरीब, अशिक्षित गैर-मुस्लिम एवं मुस्लिम लोगों जैसे - धुनियाओं, नाइयों, लुहारों, कुम्हारों, आदि के बीच अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। इस साहित्य में लोकगीत शामिल थे जो लोगों के दैनिक जीवन से संबंधित थे। इन गीतों को मुख्यतः चिश्ती सिलसिले से संबद्ध बीजापुरी सूफियों द्वारा सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी में लिखा गया था, इन्हें पूरे दक्खनी पठार में दक्खनी भाषी ग्रामीणों की मौखिक परंपरा में सुरक्षित रखा गया है और ये इस्लामी लोकगीतों की विशिष्टता लिए हुए हैं। इन

गीतों की रचना फारसी में न होकर दक्खनी में हुई थी, जो मध्यकालीन दक्खनी की स्थानीय या क्षेत्रीय भाषा थी। इन गीतों के माध्यम से न केवल गूढ रहस्यवाद का बल्कि इस्लाम एवं सूफीवाद के सरल नियमों, ईश्वर, प्रॉफेट मोहम्मद के प्रति भक्ति, अपने पीर या आध्यात्मिक गुरु के प्रति श्रद्धा का प्रचार करने का प्रयास किया गया। ये गीत विशेष रूप से स्थानीय महिलाओं पर आधारित थे जो इन गीतों को अपने घरेलू कार्य करते समय प्रायः गाया करती थीं।

विविध प्रकार के घरेलू कार्यों और महिलाओं के जीवन के विविध पक्षों से संबंधित लोकगीतों की विभिन्न श्रेणियां थीं। उदाहरण के लिए, चक्की पर अनाज पीसने से संबंधित चक्कीनामा, चक्र या चरखे पर सूत कातने से संबंधित चरखानामा, लोरी गाने से संबंधित लुननामा, शादीनामा या शादी के गीत सुहागननामा या विवाहित महिलाओं के गीत और सुहैला या स्तुति गीत। (रिचर्ड ईटन, 2000, पृ. 189-202) इन गीतों का महिलाओं के लिए महत्व था और ये उनके जीवन के लिए प्रासंगिक थे। उदाहरण के लिए, ये गीत विवाह, प्रेमी की लालसा, मां एवं बच्चे के संबंध, आदि से संबंधित होते थे। ऐसी आशा की जाती थी कि महिलाएं अपने घरेलू कार्य करते समय इन गीतों को गायेंगी और जिक्र या सूफी ध्यान एवं मनन चिंतन की आध्यात्मिक साधना करेंगी।

जिन सूफियों ने इन गीतों की रचना की वे बीजापुर के उन महान रहस्यवादी सूफियों के आसन्न आध्यात्मिक वंशज थे जिन्होंने अधिकतर फारसी में लिखा था और इन्होंने अपने गुरु के रहस्यवादी उपदेशों को इन गीतों में सरल तरीके से अभिव्यक्त किया था। मराठी और कन्नड़ में मौखिक परंपराओं में सुरक्षित पहले से चले आ रहे लोकगीतों से भी विषय लिए गए। इस टाइप के मराठी ग्रामीण गीतों का भी भक्ति परक उद्देश्य था वे पंढरपुर में विठोबा देवता पर केंद्रित थे। यही कारण था कि इस साहित्य ने लोक प्रचलित धर्म से इस्लाम के रहस्यवादी पक्षों के बीच की खाई को पाटा।

इस काल में विकसित पीर की पूजा और पीर के मकबरे में भक्तिवाद की प्रवृत्ति ने पीर के शिष्यों के 'आंतरिक मंडल' को गैर-अभिजात वर्ग के भक्तों से जोड़ा जो इन धर्म स्थलों में आया करते थे और 'बाहरी मंडल' का हिस्ता थे। इस संबंध में इस्लाम के सिद्धांतों का प्रतिपाद करने वालें सूफी लोकगीतों, सूफियों की चमत्कारिक शक्ति अर्थात् करामात तथा ईश्वर और लोगों के बीच मध्यस्थ के रूप में उनकी भूमिका ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लोगों में उनका प्रचार होने के कारण विभिन्न सामाजिक वर्ग, विशेषकर ग्रामीण महिलाएं, इन धर्म स्थलों में आने लगीं। इस संदर्भ में इन गीतों एवं साहित्य में अभिव्यक्त विचारों के प्रचार में महिलाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और बाद में वे इस्लाम का प्रसार करने में महत्वपूर्ण माध्यम बनीं। ऐसा जान पड़ता है कि महिलाएं प्रायः धर्म स्थलों या दरगाहों में मुख्यतः इस कारण आया करती थीं कि इन संतों की बरकत का संबंध उनकी जन्म क्षमता से जुड़ा हुआ था। वे विभिन्न समारोह उत्सवों में भी भाग लेती थीं। सत्रहवीं शताब्दी के मलफुजात साहित्य में इस बात का संकेत मिलता है कि महिलाएं सूफी अनुयायियों के आंतरिक मंडलों में भी प्रवेश कर जाती थीं और पुरुषों के साथ-साथ उन्हें भी धार्मिक रहस्यवाद की तथा ईश्वर के साथ सीधे संपर्क स्थापित करने का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधना करने की भी शिक्षा दी जाती थी। हालांकि अधिकांश महिलाएं गैर-मुस्लिम पृष्ठभूमि की होती थीं, परंतु 'वे इस्लाम

एवं हिंदुवाद के बीच कोई बड़ी सैद्धांतिक या सामाजिक दीवार नहीं देखती थीं। उनके लिए गांव की दरगाह पहले से विविध एवं उदारवादी धार्मिक जीवन का एक और पक्ष मात्र हुआ करती थी। (रिचर्ड ईटन, (2000), पृ. 198) परिणामस्वरूप ये महिलाएं अपने बच्चों में भी इन शिक्षाओं का प्रचार करती होंगी। इस प्रकार लोक साहित्य के माध्यम से सूफी विचार और दरगाहों में अभिव्यक्त संतों के मत महिलाओं के माध्यम से घरेलू जीवन में प्रवेश कर गए, परिवार के सदस्य दरगाह और उस विशेष सूफी सिलसिले और बाद में इस्लाम से जुड़ गए। इस प्रकार इस्लाम का गैस्-अभिजात वर्ग के ग्रामीण लोक जीवन में भी प्रसार हुआ।

परंतु इससे यह गलतफर्मी नहीं होनी चाहिए कि सूफियों की ओर से लोगों को इस्लाम में परिवर्तित करने का प्रयास किया गया। सूफी मुस्लिम मिशनरी नहीं थे क्योंकि उन्होंने उन गैर-मुस्लिम अनुयायियों को आकर्षित करने का कोई सचेत प्रयास नहीं किया जो उपर्युक्त कारणों से उनके धर्म स्थलों की ओर आकर्षित हुए थे। दरगाहों में नियमित रूप से आने वाले अधिकांश भक्त मध्यम सामाजिक पृष्ठभूमि के थे और धीरे-धीरे इस्लाम के प्रभाव में आ गए थे। इसीलिए पीर पर केंद्रित अनुयायी वर्ग बना और 'इस्लामिक शिक्षाओं का प्रसार इस प्रयास का उप-उत्पाद बना'। इसके अलावा ये सूफी ईश्वर और लोगों के बीच मध्यस्थ के रूप में अपना स्थान बनाने और लोगों की आध्यात्मिक निष्ठा को जीतने का भी प्रयास कर रहे थे। इसलिए किसी भी समय विशेष में इस्लाम में अचानक धर्मांतरण नहीं हुआ। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में दक्खन में आने वाले सूफियों को परवर्ती दंत कथाओं में इस्लाम के युद्धप्रिय चैम्पियनों के रूप में चित्रित किया गया है। इस संबंध में इस काल में कोई साक्ष्य नहीं मिलता। जो लोग यह दावा करते हैं कि उनके पूर्वजों का किसी सूफी संत द्वारा धर्मांतरण किया गया था, वे लोग 'इस्लामिक सांस्कृतिक, संक्रमण की क्रमिक प्रक्रिया' के दौर से अभी भी गुजर रहे हैं। इस संस्कृति में खान-पान, रहन-सहन और भाषा की दृष्टि से अभी भी काफी असमानताएं हैं। इसके अलावा इस प्रकार का दावा उनकी सूफी दरगाह के साथ दीर्घकालिक संबंध स्थापित होने और इस्लाम में उनकी दीर्घकालिक आस्था को प्रदर्शित करने की इच्छा से अभिप्रेरित होकर किया गया था। वास्तव में दरगाहों में इस्लामिक संस्कृति संक्रमण की प्रक्रिया प्रदर्शित हुई थी जिसमें दो समाजों के बीच सांस्कृतिक मूल्यों एवं परंपराओं के परस्पर संबंध एवं प्रसार की ऐसी प्रक्रिया परिलक्षित होती है जिसके परिणामस्वरूप नई सांस्कृतिक विशिष्टाओं को अपनाया गया था।

सूफी केवल पवित्र रहस्यवादी शिक्षाओं का प्रसार करने वाले मुस्लिम नहीं थे बल्कि वे अपने-अपने सामाजिक परिवेश के प्रति विद्रोह करने वाले विषम वर्ग के थे। रिचर्ड ईटन ने बीजापुर के सूफियों पर किए गए अपने अध्ययन में सूफियों का उल्लेख विशिष्ट संबंधों वाले वर्ग के रूप में किया है। (रिचर्ड ईटन, 1978, *सूफीज ऑफ बीजापुर, 1300-1700 : सोशल रोल्स ऑफ सूफीज इन मीडिवल इंडिया*, प्रिंसटन) सामाजिक वर्ग के रूप में उस समय निम्नलिखित चार प्रकार के सूफी थे:

- 1) **सुधारवादी सूफी:** ये सूफी मुख्यतः कादरी और शतारी सिलसिलों के थे और आदिल शाही सुल्तान, इब्राहिम द्वितीय (1580-1627) के शासन काल में फले-फूले। हालांकि सुल्तान ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया परंतु उसके व्यापक

धार्मिक दृष्टिकोण का इन सूफियों ने समर्थन नहीं किया। उन्होंने दक्खनी भाषा के प्रयोग को स्वीकार नहीं किया और अपने सामाजिक संबंध में विशिष्ट बने रहे। यह रूढ़िवादी प्रतिरोध, विशेषकर इब्राहिम के उत्तराधिकारियों के शासन काल में बहुत अधिक बढ़ गया।

कादरी और शत्तारी सिलसिले के सूफियों ने बीजापुर में इस्लाम में सुधार करने और सुल्तान के प्रभाव को दूर करने का काम किया। वे शहरों से संबंधित थे और उनके अरबी परंपराओं से गहरे संबंध थे। वे प्रायः उलेमाओं के साथ सहयोग करते थे। उन्होंने अपने खानकाह विकसित किए, अपने मुरीद बनाए और किसी न किसी पीर की खिलाफत प्राप्त की। उनके शरण स्थल सूफी गतिविधियों और उपदेशों के केंद्र थे। उनके खानकाह प्रसिद्ध थे और उनकी मृत्यु के बाद उनके मकबरे महत्वपूर्ण धार्मिक यात्रा केंद्र बन जाते थे। इससे उनके लोक प्रचलित भक्तिपरक रवैये का पता चलता है, जबकि अपने जीवनकाल में वे इसका विरोध करते थे।

- 2) **साहित्यकार सूफी** : कुछ सूफी महत्वपूर्ण लेखक थे जिन्होंने कई रहस्यवादी एवं लोक साहित्य की रचना की। वे अधिकतर चिश्ती थे और बीजापुर के बाहर शाहपुर हिलॉक में एकांत स्थल पर निवास करते थे और बीजापुर दरबार के बदलते हुए भाग्य का उन पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी रहस्यवादी रचनाओं ने दक्खनी उर्दू को सम्मानीय दर्जा प्रदान किया जो अंततः सत्रहवीं शताब्दी में दक्खन पर मुगलों की विजय के साथ हाशिये पर चली गई। सूफी लोक साहित्य के विकास में उनकी भूमिका पर जो गैर-अभिजात वर्ग, विशेषकर गैर-मुस्लिमों को एकीकृत करने का महत्वपूर्ण साधन बनी, पहले ही चर्चा की जा चुकी है। उनकी लोकप्रियता सूफी आस्था के साथ भी जुड़ी हुई थी जो अब दरगाहों में केंद्रित हो गई है।
- 3) एक और प्रकार के सूफी वे थे जिन्होंने शासन से दान में दी गई भूमि स्वीकार की और बीजापुर में भूमिपति अभिजात वर्ग या ईनामदार के रूप में उभरे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बीजापुर राज्य में सामाजिक और राजनीतिक हलचल होने लगी थी। इस काल में सुल्तान की राजनीतिक रणनीति उलेमाओं को स्थापित करने तथा गैर-चिश्ती मूल के ऐसे सूफियों को जीतने की थी जिनके पूर्वजों का विख्यात सामाजिक आधार हुआ करता था। इसलिए उन्हें काफी जमीनें दान में दी गईं और राज्य संरक्षण प्रदान किया गया जिससे ये सूफी वृहत्तर समाज के भीतर शाही विचारधारा का प्रचार करें और उन्हें वैद्यता प्रदान करें। इन भूमिपति सूफियों को पीरजादा कहा जाता था जिसका शाब्दिक अर्थ था संत के रूप में जन्मा व्यक्ति। बाद में सूफी संस्थाओं के भीतर कुछ परिवर्तन हुए। खानकाहों की अनदेखी की गई और दरगाहों का समर्थन किया गया जो अब बड़ी मात्रा में भक्तों को आकर्षित करने लगीं थीं और उनका प्रबंधन आय का लाभकारी साधन बन गया था। इसके अलावा शासन ने उन सिलसिलों को संरक्षण प्रदान किया जिनकी प्रसिद्ध दरगाहें थीं क्योंकि यह ऐसे वृहत्तर समाज में उनके लिए पहुंच का मार्ग प्रशस्त करती थीं जिस पर वे नियंत्रण करना चाहते थे। चूंकि भूमि दान में देना शासन की इच्छा पर निर्भर होता था, इसलिए शासन का दरगाहों के आंतरिक कार्यों में,

विशेष रूप से उत्तराधिकारी नियुक्त करने, स्वीकार या अस्वीकार करने में हस्तक्षेप और नियंत्रण रहता था। सूफी अब स्वयं खानकाहों को कम महत्व देने लगे थे और उन्होंने अपना ध्यान दरगाहों पर केंद्रित कर लिया था। 'व्यक्तित्व संप्रदाय' ने 'सिलसिला संप्रदाय' का स्थान ले लिया था। पीर पूजा की अवधारणा प्रचलित हो गई और सूफी दर्शन का बौद्धिक रहस्यवादी पक्ष पृष्ठभूमि में चला गया। खानकाहों और दरगाहों का नेतृत्व अब पारिवारिक आनुवांशिकता पर आधारित हो गया जो व्यक्तित्व पर केंद्रित होकर काफी समृद्ध हो गया। इन भू-अनुदानों के माध्यम से पतनशील आदिल शाही शासन ने सूफियों की राजनीतिक स्वामिभक्ति को सुनिश्चित किया और इसके माध्यम से शासक इस वर्ग से यह अपेक्षा रखने लगे थे कि यह शासन के प्रति स्वामिभक्ति पैदा करेगा, विरोधी प्रवृत्तियों का दमन करेगा और शासन की नीतियों को वैद्यता प्रदान करेगा। यह रणनीति सत्रहवीं शताब्दी में आदिल शाही शासन के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण बन गई क्योंकि बीजापुर शासन के विरुद्ध स्थानीय शक्तियों के निरंतर विद्रोह के कारण यह क्षेत्र अशांत बन गया था। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि सुविख्यात शेखों को दरबार में बुलाया गया और उनसे दक्खन में मराठा आक्रमण के संबंध में सुल्तान के कल्याण की प्रार्थना करवाई गई।

परंतु सूफियों ने अपने भूमिपति हितों की सुरक्षा की और प्रचलित परंपरा की अनदेखी कर दी। वास्तव में 1686 में आदिल शाही शासन का पतन होने से इन भूमिपति सूफियों के भाग्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। औरंगजेब ने ईनाम भूमियों का नवीकरण किया और नई भूमि दान में दीं। वास्तव में भूमिपति पीरजादे ही ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मुगल शासन को स्वीकार किया था क्योंकि शासन के बने रहने में ही उन्हें अपना जीवन और समृद्धि दिखाई दी।

- 4) **दरवेश** : इस प्रकार की रूढ़िवादिता और भक्तों की धार्मिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर दरबारी संरक्षण के लिए दी जाने वाली प्राथमिकता के कारण कुछ सूफियों की ओर से विरोध प्रकट किया गया। इन सूफियों को दरवेश कहा जाता था और ये आध्यात्मिक आनुवांशिक परंपरा से लेकर गैर रूढ़िवादी तक हुआ करते थे। वे पीरजादों और ईनामदारों के विरोधी थे क्योंकि उन्हें लगता था कि वे बहुत ज्यादा समझौतावादी हैं। दरवेशों ने इस्लामिक रूढ़िवादिता और उसके शहरी भौतिकवादी विन्यास को तुकराया। उन्होंने ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने के लिए आध्यात्मिक साधना का मार्ग अपनाया। वे 'सांसारिक संबंधों से आंशिक या पूर्ण रूप से दूर हो गए। वास्तव में धर्म की प्रारंभिक विशुद्धता और सरलता पर जोर देने के कारण बीजापुर के मजजुब इराक और खोरासान के प्रारंभिक सूफियों जैसे लगते थे। मजजुबों ने सूफीवाद के प्रारंभिक सिद्धांतों को अपनाने वाले समकालीन समाज का खंडन किया। समकालीन सूफी साहित्य में उन्हें मजजुब कहा गया है। वास्तव में बीजापुरी शासन का पतन होने से पीरजादों और दरवेशों के बीच ध्रुवीकरण और तेज हो गया। एक प्रख्यात दरवेश अमीनउद्दीन अल्लाह एक चिश्ती था जिसकी लोकप्रियता और प्रभाव को देखकर कादरी सिलसिले के पीरजादे विशेष रूप से भयभीत हो गए थे।

21.7 सारांश

यह इकाई दक्षिण भारत में मध्यकाल में उभरे विभिन्न सामाजिक वर्गों का सर्वेक्षण है। सामाजिक परिवर्तन के ऐतिहासिक संदर्भ और परिणामस्वरूप सामाजिक ढांचे में हुए परिवर्तनों को राजनीतिक सीमाओं में होने वाले परिवर्तनों, व्यापार एवं वाणिज्य में हुए विकास, कृषि कार्यों के प्रसार, भक्ति एवं सूफी पर आधारित सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों और अंततः अंतरराष्ट्रीय व्यापार एवं उससे होने वाले लाभों के संदर्भ में देखा गया है। इसमें जिन सामाजिक वर्गों पर चर्चा की गई है वे राजनीतिक अभिजात वर्ग, भूमिपति अभिजात वर्ग, धार्मिक नेता, व्यापारी एवं व्यावसायी, भूमिपति एवं वलनगई, इडनगई जाति के हैं। इन वर्गों के संबंध में चर्चा पिछली इकाईयों में पहले ही की जा चुकी है। इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक रूपांतरण को समझने के लिए रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

21.8 अभ्यास

- 1) प्रायद्वीपीय भारत में भूमिपति अभिजात वर्गों की शक्ति एवं स्थिति का परीक्षण कीजिए।
- 2) प्रायद्वीपीय भारत में राजनीतिक अभिजात वर्गों के विभिन्न वर्गों का वर्णन कीजिए।
- 3) मध्यकाल में प्रायद्वीपीय भारत के बदलते हुए सामाजिक ढांचे का विश्लेषण कीजिए।
- 4) सत्रहवीं शताब्दी में दक्खन क्षेत्र में सूफियों के विभिन्न वर्गों का वर्णन कीजिए।
- 5) दक्खन में सूफियों की सामाजिक-राजनीतिक भूमिका क्या थी?